॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

# आत्मधर्म

वर्ष तीसरा
अंक ग्यारहवां

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

फाल्गुन
२४७४

## ❀ मुक्ति का मार्ग ❀

**प्रश्न**—चैतन्य की प्रतीति द्वारा सम्यक्दर्शन होने के बाद क्या करना चाहिये ?

**उत्तर**—चैतन्य की प्रतीति होने पर ज्ञानस्वभाव और राग दोनों भिन्नरूप से अनुभव में आते हैं, उनमें से ज्ञान का–चैतन्य का ग्रहण और राग का–बन्ध का त्याग करना चाहिये। बीच में व्यवहार विकल्प इत्यादि जो बन्धभाव आयें, उन्हें आत्मारूप से ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु बन्धरूप जानकर छोड़ देना चाहिये। ऐसा करने से ही बन्धन कटकर मुक्ति प्राप्त होती है। इसका मूल उपाय सम्यक्दर्शन ही है।

ज्ञानीजन शुभराग छोड़कर अशुभ राग करने की बात नहीं कहते, किन्तु वे शुभराग से भी रहित वीतराग अकषायस्वरूप की प्रतीति करने को कहते हैं। सम्यक्दर्शन प्राप्त होने पर भी बाह्य दशा में अथवा महाव्रतादि के विकल्पों में भी सच्चा मुनित्व नहीं है, किन्तु सम्यक्दर्शन में जो स्वभाव स्वीकार किया गया है, वह अकषाय स्वभाव की स्थिरता ही मुनिदशा है।

यदि ऐसी लीनता न हो सके तो परिचयपूर्वक उस लीनता का अभ्यास या प्रयत्न करना चाहिये, और बीच में जो विकल्प आयें, उन्हें बन्धनरूप जानकर उनमें धर्म न माने। पुण्य और पाप दोनों बन्धन हैं, यह जानकर उन्हें श्रद्धा में से तो पहले ही निकाल देना चाहिये। और फिर पुण्य–पाप रहित ज्ञानस्वभाव की श्रद्धा करने के पश्चात्, जो शुभविकल्प आयें, उन्हें छोड़कर शुद्धस्वरूप में लीनता करना चाहिये। यही आत्मा का प्रयोजन है, और यही मुक्ति का मार्ग है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग ३५ दर्शक मासिक पत्र

छुटक अंक
पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

# प्रश्नोत्तर

१-प्र.—जिसके द्वारा पहिचाना जाता है, वह क्या है ? और जो पहचाना जाता है, वह क्या है ?

उ.—जिसके द्वारा पहिचाना जाता है, वह ज्ञान है, और जो पहिचाना जाता है, वह ज्ञेय है। ज्ञान अपने आत्मा को पहिचान सकता है।

२-प्र.—आत्मा अनेकान्तमय है, तथापि उसे ज्ञानमात्र क्यों कहा है ? और ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे अनंत धर्म आत्मा में हैं, उन्हें क्यों छोड़ दिया है ?

उ.—आत्मा के अनंत धर्मों में ज्ञान मुख्य है, इसलिये उस ज्ञान को प्रधानता देकर आत्मा को ज्ञानमात्र कहा जाता है। ज्ञानलक्षण प्रसिद्ध है, इसलिये उसके द्वारा आत्मा की पहिचान की जाती है। ज्ञानमात्र के कहने पर आत्मा के अनंत धर्म, ज्ञान के साथ ही आ जाते हैं।

३-प्र.—ज्ञानलक्षण के द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि करने का क्या प्रयोजन है ?

उ.—अज्ञानी को आत्मा के स्वरूप की पहिचान नहीं है, इसलिये आत्मा के अनंत धर्मों में से एक धर्म को अलग करके पहिचान कराते हैं—जो जानता है, वह आत्मा है। जब इस प्रकार भेद करके समझाया जाता है, तब ही अज्ञानी जीव, आत्मा को समझ सकते हैं। इसलिये ज्ञानलक्षण के द्वारा आत्मा का लक्ष्य (प्रसिद्धि) किया जाता है, ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहने से कहीं ज्ञान और आत्मा अलग नहीं हो जाते। ज्ञान ही आत्मा है, इसलिये ज्ञान का लक्ष्य करने पर वास्तव में आत्मा ही लक्ष्य में आता है।

४.प्र.—आत्मा में अनंतधर्म विद्यमान हैं, उनमें से अन्य किसी धर्म को आत्मा का लक्षण न कहकर ज्ञान को ही क्यों कहा है ?

उ.—दूसरे अनंतधर्म हैं परन्तु वे ज्ञान की तरह प्रसिद्ध नहीं हैं। अनंत धर्मों में से एकमात्र ज्ञान ही ऐसा है कि जो स्व-पर को जानता है। परद्रव्य सबको प्रगट दिखाई देते हैं, इसलिये उसे देखनेवाला ज्ञान प्रसिद्ध है, दूसरे धर्म स्व-पर को नहीं जानते, इसलिये वे अप्रसिद्ध हैं, इसलिये ज्ञान को आत्मा का लक्षण कहा है, तथापि जो अनंतधर्म हैं, वे ज्ञान से अलग नहीं हैं।

५.प्र.—जब कि आत्मा और ज्ञान भिन्न नहीं हैं, तब उनके बीच लक्ष्य-लक्षण का भेद क्यों किया जाता है ?

उ.—आत्मा और ज्ञान वास्तव में भिन्न नहीं है परन्तु अज्ञानी को आत्मा का लक्ष्य नहीं होता और उनके लक्षण की ही प्रसिद्धि होती है; अर्थात् मात्र 'आत्मा' कहने से वे नहीं समझ सकते किन्तु लक्षण के द्वारा ही लक्ष्य को समझ सकते हैं, इसलिये अज्ञानियों को आत्मा की पहिचान कराने के लिये लक्ष्य-लक्षण के भेद के द्वारा समझाया जाता है। वहाँ ज्ञान प्रसिद्ध है और उसके द्वारा प्रासाध्यमान आत्मा है, अर्थात् ज्ञान द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि होती है।

६.प्र.—ज्ञानलक्षण के द्वारा लक्ष्य की पहिचान कराई जाती है तो क्या लक्ष्यभूत आत्मा भिन्न है ?

उ.—ज्ञानलक्षण से लक्ष्य आत्मा भिन्न नहीं है। ज्ञान स्वयं ही आत्मा है। ज्ञान और आत्मा द्रव्यरूप से अभेद हैं। पहले समझाते हुए भेद किये थे परंतु उस लक्ष्य-लक्षण के भेद का लक्ष छोड़कर जो अभेदआत्मा को लक्ष में लेता है, उसी को आत्मा की प्रसिद्धि (आत्मा की पहिचान सम्यक्दर्शन) होती है। किन्तु यदि भेद पर ही लक्ष करके रुक जाय तो आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि भेद के लक्ष में लग जाने से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये भेदरूप व्यवहार छोड़ने योग्य है।

७. प्र.—ज्ञप्तिक्रिया किसे कहते हैं ?

उ.—आत्मा के ज्ञान की निर्मलक्रिया को ज्ञप्तिक्रिया कहते हैं, यह क्रिया मोक्ष का कारण है।

८. प्र.—अज्ञानीजन ज्ञप्तिक्रिया की जगह व्रत-तपादि की क्रिया को मोक्षमार्ग क्यों मानते हैं ?

उ.—अज्ञानी को ज्ञानस्वरूप आत्मा की खबर नहीं है, अर्थात् वह आत्मा के अंतरंग ज्ञानरूप ज्ञप्तिक्रिया को नहीं जानता; इसलिये उसकी दृष्टि शरीर की क्रिया पर और शुभराग पर ही होती है। वह व्रत-तपादि की शुभक्रिया में तथा शरीर की क्रिया में मोक्षमार्ग मानता है। अज्ञानी की उस क्रिया को करोतिक्रिया कहा जाता है, जो कि संसार का कारण है।

जिन्हें आत्मप्रतीति होती है, उन्हीं को ज्ञप्तिक्रिया होती है; वे करोतिक्रिया को अपना स्वरूप नहीं मानते। अज्ञानी के भेदज्ञान का अभाव होता है; इसलिये उसे ज्ञानक्रिया कठिन मालूम होती है और व्रत-तपादि के शुभराग की क्रिया सरल मालूम होती है, इसलिये वह शुभराग को मोक्षमार्ग मानता है।✦

# क्रिया

—पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी के स्मृति दिन पर दिया गया व्याख्यान—

## क्रिया की सामान्य परिभाषा

पर्याय का परिवर्तन होना, सो क्रिया है; प्रत्येक द्रव्य की पर्याय समय-समय पर बदलती ही रहती है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय ही उसकी क्रिया है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने में ही होती है, एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य में नहीं होती, इसलिये एक द्रव्य की क्रिया भी दूसरे द्रव्य में नहीं होती, तथा एक द्रव्य की क्रिया भी दूसरा द्रव्य नहीं करता।

## क्रिया के प्रकार

इस संसार में जड़ और चेतन दो प्रकार के द्रव्य हैं। द्रव्य की पर्याय ही क्रिया है, इसलिये क्रिया भी जड़ और चेतन दो प्रकार की है। जड़ द्रव्य की अवस्था जड़ की क्रिया है, और चेतन द्रव्य की (जीव की) अवस्था, सो चेतन की क्रिया है, अर्थात् जीव की क्रिया है।

जीव की क्रिया दो प्रकार की है—रागादि भावरूप विकारी क्रिया और रागादि भाव रहित सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अविकारी क्रिया। विकारी क्रिया, बंध का कारण है; इसलिये उसे बन्ध की क्रिया भी कहते हैं, और अविकारी क्रिया, मोक्ष का कारण है; इसलिये उसे मोक्ष की क्रिया कहते हैं।

इस भाँति कुल तीन प्रकार की क्रियाऐं हुईं — (१) जड़ की क्रिया, (२) जीव की विकारी क्रिया (३) जीव की अविकारी क्रिया।

## जड़ की क्रिया

शरीर जड़ है, इसलिये उसकी प्रत्येक क्रिया जड़ की क्रिया है। शरीर का हिलना-डुलना या स्थिर रहना जड़ की क्रिया है, उसके कर्ता जड़ परमाणु हैं, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। जड़ की क्रिया के साथ बन्ध अथवा मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है। शरीर की हलन-चलनरूप अवस्था में अथवा स्थिरतारूप अवस्था में बन्ध या मोक्ष की क्रिया नहीं है, अर्थात् शरीर की किसी भी क्रिया से आत्मा को बन्ध या मोक्ष, लाभ या हानि, अथवा सुख-दुःख नहीं होता, क्योंकि शरीर की क्रिया, जड़ की क्रिया है।

पहले शरीर की अवस्था घर में रहने की होती है, और उसमें हलन-चलन होता है, फिर शरीर की अवस्था बदल कर वहाँ से धर्मस्थान में जाकर स्थिर होता है। इस परिवर्तन से अज्ञानी जीव धर्म मानता है। परन्तु जड़ की क्रिया बदल जाने से आत्मा के धर्म, पुण्य या पाप नहीं होता।

शरीर की भाँति ही, रुपया, पैसा, वस्त्र, आहारादि का संयोग-वियोग भी जड़ की क्रिया है, उससे धर्म अथवा पुण्य-पाप नहीं होता। इनमें से किसी भी क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है।

**विकारी क्रिया**

जीव की पर्याय में जो राग-द्वेष-अज्ञानरूप भाव होते हैं, वह जीव की विकारी क्रिया है, इस क्रिया को बंध की क्रिया कहते हैं। शरीरादि जड़ की क्रिया से विकारी क्रिया नहीं होती, और जीव की विकारी क्रिया से शरीरादि जड़ की क्रिया नहीं होती। राग-द्वेष अज्ञानरूप भाव आत्मा की पर्याय में होते हैं, इसलिये आत्मा की पर्याय में ही वह विकारी क्रिया करने की योग्यता है। शरीर की क्रिया से पुण्य-पाप नहीं होते। पुण्य-पापरूप विकारी क्रिया बन्धन की क्रिया है, उस क्रिया के द्वारा संसार मिलता है, मोक्ष दूर होता है, और आत्मा के गुणों की पर्याय नष्ट होती है। इस क्रिया से धर्म नहीं होता।

**प्रश्न**—जड़ की क्रिया करने पर ही तो धर्म होता है? जैसे पहले शरीर को घर से धर्मस्थान तक ले जाये, धर्म सुने, और फिर यथार्थ समझ से धर्म होता है, इस प्रकार जड़ की क्रिया करने की बात हुई या नहीं?

**उत्तर**—जड़ की क्रिया द्वारा धर्म नहीं होता। जड़ की क्रिया आत्मा करता ही नहीं, इसलिये उस क्रिया के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं है। उपरोक्त दृष्टान्त में शरीर की क्रिया बदलने से धर्म नहीं हुआ किन्तु 'तत्त्व समझने को जाना है' ऐसा जो शुभभाव हुआ, और घर से धर्मस्थान पर गया, वहाँ निम्न प्रकार की क्रियाऐं हुईं:—

(१) शुभभाव हुआ, सो पुण्य है, वह विकारी क्रिया है। (२) शरीर का क्षेत्र परिवर्तन हुआ, सो जड़ की क्रिया है। (३) आत्मप्रदेशों का क्षेत्रपरिवर्तन हुआ, सो आत्मा की विकारी क्रिया है। (४) सत् सुनने के प्रति लक्ष हुआ, सो वह शुभभावरूप विकारी क्रिया है। यह चार क्रियायें हुईं, तब तक धर्म नहीं हुआ। धर्म सुनने के लक्ष से भी हटकर, स्वलक्ष की ओर उन्मुख हो और अपने शुद्ध आत्मस्वभाव का महिमापूर्वक निर्णय करे तो वह अविकारी क्रिया है, और वही धर्म है। जड़ की क्रिया, आत्मप्रदेशों की क्षेत्रपरिवर्तनरूप क्रिया, और शुभरागरूप विकारीक्रिया से धर्मक्रिया भिन्न है।

इसी प्रकार किसी जीव के, रुपया-पैसा कमाने इत्यादि की अशुभ भावना हुई, और शरीर की क्रिया पापकार्यों में हुई, तो वहाँ भी शरीर की क्रिया, जड़ की स्वतंत्र क्रिया है, उससे जीव को लाभ-हानि नहीं होती। और जो अशुभभाव हुए, वह जीव की विकारीक्रिया है, उससे जीव को हानि होती है। अशुभभावों के कारण भी शरीर की क्रिया नहीं होती।

अशुभपरिणाम से पाप, और शुभपरिणाम से पुण्य का समावेश विकारीक्रिया में होता है, और दोनों समय होनेवाली शरीर की क्रिया, वह स्वतंत्र जड़ की क्रिया है। मेरे परिणामों के कारण जड़ की क्रिया हुई है, ऐसा माने तो मिथ्या है, और पुण्यपरिणामों के कारण धर्म की क्रिया हुई है – ऐसा माने तो भी मिथ्या है।

धर्मस्थान में शरीर दो घड़ी स्थिर होकर बैठा, सो वह जड़ की क्रिया है। यदि उस समय शुभ-परिणाम हो तो वह पुण्य है, और यदि धर्मस्थान में बैठकर भी घर इत्यादि के अशुभ विचार करता हो, तो पाप है। पुण्य और पाप दोनों विकार हैं, उनसे धर्म नहीं होता, यदि ऐसी आत्मप्रतीति उस समय विद्यमान हो तो वह उतने अंश में अविकारी धर्मक्रिया है, वह मोक्ष की उत्पादक क्रिया है। और पुण्य-पाप दोनों बन्ध की क्रिया हैं, जो कि संसार की उत्पादक क्रिया है। किसी जीव ने अशुभ परिणाम छोड़ दिये और जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थ-गुरु एवं सत्शास्त्र के लक्ष से शुभराग किया तथा उसमें धर्म माना तो वह जीव एकान्त बन्धन की क्रिया ही कर रहा है, उसके अधर्म क्रिया ही विद्यमान है-फिर भले ही वह चल रहा हो, स्थिर हो, त्यागी हो या गृहस्थ हो, अथवा खा रहा हो या उपवासी हो।

## अविकारी क्रिया

अविकारी क्रिया का अर्थ है धर्म की क्रिया अथवा मुक्ति की क्रिया। लोग कहते हैं कि क्रिया से धर्म होता है, किन्तु वह किसकी और कैसी क्रिया है ? वह जड़ की क्रिया है, या चेतन की, विकारी क्रिया है या अविकारी ? जिसे जड़, विकारी और अविकारी क्रिया के स्वरूप की ही खबर नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहाँ से करेगा ?

मुक्ति की क्रिया में पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और पर की ओर के झुकाव से जो भाव होता है, उसके साथ भी सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति की क्रिया में परपदार्थ पर या विकार पर दृष्टि नहीं होती, किन्तु पर से और विकार से भिन्न अपने असंयोगी अविकारी त्रिकाल स्वभाव पर दृष्टि होती है। विकारी क्रिया भी आत्मा की वर्तमान दशा है, और अविकारी क्रिया भी आत्मा की वर्तमान दशा है। आत्मा की जो वर्तमान दशा, स्वभाव के साथ का एकत्व छोड़कर परलक्ष में और पुण्य-पाप में अटक जाती हैं, वही विकारीक्रिया है, संसार है, मोक्ष की घातक है, सुख को दूर करनेवाली और दुःख को देनेवाली है। तथा आत्मा की जो वर्तमान दशा, परलक्ष से हटकर स्वलक्ष में अपने त्रैकालिक स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता में टिकी हुई है, वही अविकारी क्रिया है, धर्म है, मोक्ष की उत्पादक है, संसार की घातक है, सुख देनेवाली और दुःख दूर करनेवाली है।

विकारी क्रिया या अविकारी क्रिया दोनों एक समयमात्र की जीव की अवस्था हैं किन्तु उन दोनों के लक्ष में अन्तर है। अविकारी क्रिया का लक्ष त्रिकाली शुद्ध-स्वस्वभाव है, और विकारी क्रिया का लक्ष परद्रव्य तथा पुण्य-पाप है, जड़ का कार्य करने की बात, दो में से एक भी क्रिया में नहीं है, जड़ की क्रिया इन दोनों से अलग स्वतंत्र है। उससे न तो बन्ध होता है, और न मुक्ति।

मोक्ष किसके लक्ष से होता है ? तीन प्रकार की क्रियाओं में से किस क्रिया से मोक्ष होता है ? जड़ के लक्ष से मोक्ष होता है या पुण्य पाप के लक्ष से ? आत्मा में परद्रव्य का त्याग या ग्रहण नहीं होता, इसलिये उसके लक्ष से मोक्ष नहीं होता। जो पुण्य-पाप होते हैं, सो भी परलक्ष से होते हैं, इसलिये विकार हैं, उनके लक्ष से मोक्ष नहीं होता। अर्थात् जड़ की क्रिया से, और विकारी क्रिया से मोक्ष नहीं होता। जड़ की क्रिया का बाह्य संयोग होने पर भी, और पर्याय में क्षणिक राग-द्वेष होने पर भी, मैं इस जड़ से भिन्न हूँ, और मेरे शुद्ध ज्ञानभाव में राग-द्वेष नहीं हैं; ऐसा भेदज्ञान हो, सो प्रारम्भ की धर्म की क्रिया है, पश्चात् शुद्ध ज्ञाताभाव में स्थिरता करने पर राग-द्वेष दूर होते जाते हैं। इस प्रकार धर्म की क्रिया के बल से विकार की क्रिया का नाश होता है।

(१) पेट में अन्न जाये या न जाये, वह जड़ की क्रिया है, उस में न तो पुण्य पाप है, और न धर्म ही। (२) पेट में अन्न नहीं गया, इसलिये उस समय (उपवास में) जीव को उपेक्षा मालूम हो कि उपवास तो भले किया किन्तु कल जैसा आज आनन्द नहीं आया, तो उसके यह अशुभ-परिणाम हैं, जिन से पाप-बन्ध होता है। (३) यदि उस समय मन्दकषाय रखे तो शुभपरिणाम होते हैं, जिनसे पुण्य-बंध होता है। (४) उस समय आहार, शरीर और पुण्य-पाप का लक्ष छोड़कर अपने त्रैकालिक आत्मस्वभाव को पहिचान कर उसमें स्थिर हुआ-अनुभव में एकाग्र हुआ, सो धर्म है।

इनमें से पहली जड़ की क्रिया है, दूसरी और तीसरी विकारी की क्रिया है, और चौथी धर्म की क्रिया अथवा अविकारी क्रिया है।

शरीर स्थिर रहे, सो जड़ की क्रिया है। उस जड़ की क्रिया से जो आत्मा का अनुमान करता है, वह अज्ञानी है। जड़ शरीर की क्रिया स्थिर रहने के रूप में हो गई, परन्तु उस समय आत्मा की क्रिया किस प्रकार की हो रही है, इसे जाने बिना धर्म का माप कहाँ से निकालेगा ? धर्म की क्रिया शरीर में होती है या आत्मा में ? जिसकी भूमिका में धर्म की क्रिया होती है, ऐसे आत्मस्वभाव की जिसे खबर नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहाँ करेगा ? इसलिये सर्वप्रथम आत्मस्वरूप को समझना चाहिये। यही प्रारम्भिक धर्म की क्रिया है, इसके अतिरिक्त धर्म की कोई दूसरी क्रिया नहीं है। ✦

# अध्यात्मोपदेश

(श्री समयसार के मोक्षाधिकार पर
पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से)

**शंका**—अध्यात्मोपदेश में बारम्बार आत्मस्वरूप को समझने की ही बात आती है, किन्तु कषायों को मन्द करने की अथवा वैराग्य-भक्ति की बात क्यों नहीं होती? आप सम्यक्दर्शन प्राप्त करने की बात तो भार देकर करते हैं, और जब व्रतादि की बात आती है, तब यह कहकर उसे सर्वथा गौण कर देते हैं कि 'व्रत से धर्म नहीं होता।' मेरी समझ में यह नहीं आता कि इसमें सिद्धान्त बोध या उपदेश बोध क्या है?

**समाधान**—जो आत्मस्वरूप को समझने में संलग्न हैं, उनके कषाय की मन्दता, सच्चे देव, गुरु, शास्त्र के प्रति बहुमान, कुदेवादि को न मानना, ब्रह्मचर्य की रुचि, और स्वाध्याय इत्यादि का शुभभाव क्या नहीं होता? जो दुनियां के झगड़े-झंझट का पाप छोड़कर-मात्र आत्मा की बात सुनता है, और उसे समझने में लग जाता है, उसमें कितनी जिज्ञासा है? कषाय की कितनी मन्दता है? क्या यह सब व्यवहार नहीं है? आत्मस्वरूप को समझने की जो रुचि हुई और उसमें संलग्न हो गया, क्या उतने अंश में संसार के प्रति वैराग्य नहीं हुआ? जिसे सत् को समझने की जिज्ञासा होती है, उसे सत् और सत् के निमित्तभूत देव, गुरु, शास्त्र के प्रति अत्यंत बहुमान होता है। इस प्रकार शुभभाव, भक्ति, कषाय की मन्दता और वैराग्य इत्यादिरूप व्यवहार आता तो है किन्तु आत्मा के शुद्धस्वरूप को समझने की मुख्यता में उस व्यवहार को गौण कर दिया जाता है।

यदि जिज्ञासापूर्वक इस मार्ग को भली भांति समझे तो सत्य का मार्ग सीधा सम्यक्दर्शन पूर्वक केवलज्ञान और मोक्ष का ही है। यह भाषा ज्ञान की बातें नहीं किन्तु स्वभाव का मार्ग है। यथार्थ सत् की ओर की जिज्ञासा और सत् में अर्पणता ही सत् स्वरूप को प्राप्त करने का स्वतन्त्र उपाय है। इसमें न तो पराधीनता है, और न बुद्धि को गिरवी रखने जैसी कोई बात है। यदि आग्रह छोड़कर आत्मा के चाव से स्वयं समझना चाहे तो स्वयं ही सत् स्वरूप है, उसमें अभेद होता है।

यदि शुभराग में हर्ष और उमंग दिखायेगा तो उस शुभराग में ही अटक जायेगा और स्वभाव की रुचि करके उस ओर उन्मुख नहीं हो सकेगा, इसलिये मिथ्यात्व दूर नहीं होगा। जिससे मिथ्यात्व दूर न हो और संसार का अन्त न आये, वह ध्यान किस काम का? शुद्धात्मस्वभाव को निश्चय द्वारा जानने से ही सम्यक्दर्शन प्रगट होता है, और सम्यक्दर्शन से ही अनन्त संसार का अन्त होता है।

निश्चय को जाने बिना, व्यवहार को भी यथार्थतया नहीं पहिचाना जा सकेगा। सारे संसार की झंझट को छोड़कर दिनभर मात्र असंग तत्व का अभ्यास करने में क्या कषाय की मन्दता नहीं आती ? जो यह श्रवण कर रहा है, उसमें श्रवण का भाव व्यवहार नहीं तो क्या निश्चय है ? सत्य का श्रवण करना तथा प्रतिपादन करना शुभरागरूप व्यवहार है। लौकिक शुभराग की अपेक्षा सत् सम्बन्धी यह राग अन्य प्रकार का है, यह लोकोत्तर पुण्य का कारण है। साधक को शुभराग होता है, उसका निषेध नहीं है, परन्तु ज्ञानीजन उस राग को मुक्ति के कारणरूप में मानने का निषेध करते हैं, राग मेरी आत्म-शांति के लिये सहायक नहीं है, इस प्रकार रागरहित स्वभाव की रुचि और प्रतीति में भली भांति दृढ़ता करना ही मुक्ति का मार्ग है।

ज्ञानी को सत् स्वभाव के लक्ष से जैसा उच्च प्रकार का शुभराग होता है, वैसा राग, अज्ञानी के नहीं होता। तथापि ज्ञानी उस राग को आदरणीय नहीं मानता, और अज्ञानी, राग को आदरणीय मानता है।

हे भाई! शुभराग के होते हुए भी, तू अपने आत्मा के लिये मान कि मैं शुद्ध, चैतन्य, ज्ञाता, शांतिस्वरूप हूँ, यह राग मुझमें रहने के लिये नहीं है, वह विकार है, मेरा स्वरूप नहीं है। यह समझकर उस राग का आदर छोड़ और आत्मरुचि को दृढ़ करके अभेद स्वभाव की ओर उन्मुख हो। ऐसा करने से सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट करके मोक्ष होगा और बन्धभाव छूट जायेगा।

अरे! अज्ञानी को चैतन्य के वीतरागी स्वभाव की और वीतराग सम्यक्दर्शन की महिमा ज्ञात नहीं होती, किन्तु वह पंच महाव्रतादि के राग के प्रति महिमा लाता है। वीतराग स्वभाव की रुचि तथा विश्वास के बिना पंच महाव्रत का राग करने से आत्मा को क्या लाभ है ? पहले तो पंच महाव्रत के राग से आत्मा को लाभ मानना ही मिथ्यात्व है, और वह महापाप है, तब फिर विचार करो कि पंच महाव्रत के पालक अज्ञानी आत्मा को प्रारम्भ में, मध्य में या अन्त में क्या फल मिला ? शुभराग स्वयं आकुलता है; उसका अभिमान करके मिथ्यात्व को दृढ़ करता है, और उस शुभराग के फल स्वरूप भी जड़ का संयोग होता है। कभी भी उस राग के द्वारा आत्मा को लाभ नहीं होता। तथापि प्रथम भूमिका में देव, गुरु, शास्त्र के परिचयपूर्वक उनके प्रति बहुमान-भक्ति, ज्ञानियों का समागम और वैराग्य इत्यादि का शुभराग होता है। जिसे संसार की तीव्र रुचि हो और ज्ञानियों के प्रति बहुमान तथा भक्ति न हो तो वह जिज्ञासु भी नहीं है। यहाँ बताया है कि जो जिज्ञासु है, उसे भी शुभराग, सम्यक्दर्शन का कारण नहीं है।

अनन्तकाल में मानव शरीर मिला और महा सौभाग्य से सत्य बात सुनने को मिली, तब भी यदि आत्मा को न पहिचाने तो उसके लिये अनन्त संसार पड़ा ही है। अन्यत्र तो सत्य बात है ही नहीं, किन्तु आजकल जैनों में भी सत्य बात दुर्लभ हो गई है। आत्मस्वरूप को पहिचानकर अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त हो जाये, ऐसा उपाय बतानेवाली वाणी का योग मिला है, फिर भी बाह्य भावों (शुभाशुभ-विकारभावों) के प्रति रुचि बनी रहे तो यह स्पष्ट है कि वह सत् की ओर उन्मुख नहीं हुआ, अर्थात् आत्मा की रुचि नहीं हुई। जब तक स्वयं आत्मरुचि को जागृत न करे, तब तक सच्चे देव, गुरु, धर्म का संयोग होने पर भी, उसके लिये वह सत् का निमित्त नहीं होता, किन्तु मात्र शुभराग का निमित्त होता है।

यदि जीव स्वयं राग की रुचि को छोड़कर स्वभाव की रुचि न करे तो धर्म-लाभ नहीं होता, और जन्म-मरण का अन्त नहीं होता। शुभराग करे तो उससे पुण्य बन्ध होता है, किन्तु उससे आत्मा को क्या लाभ? पुण्य का भाव या पुण्य के परमाणु आत्मा में बने नहीं रहते। जो धर्म प्रगट होकर आत्मा में अभिन्नरूप से बना रहे, वही धर्म आत्मा की मुक्ति का कारण है, और वह धर्म सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही है।

शंकाकार कहता है कि यह सब समझना तो कठिन मालूम होता है, इसलिये दूसरा कोई उपाय बताइये? उसके समाधानार्थ कहते हैं कि—मोक्ष के लिये तो यही उपाय है। मोक्ष, आत्मा में ही होता है, इसलिये आत्मा का स्वरूप समझना चाहिये। कोई दूसरा मोक्षरूप नहीं होता, किन्तु आत्मा स्वयं ही मोक्षरूप होता है, इसलिये सब सैनी आत्माओं में मोक्ष हो इतना समझने की शक्ति है। यदि स्वभाव की रुचिपूर्वक प्रयत्न करे तो अवश्य समझ में आ जाता है। ●●●

**सूचना**

आपका आत्मधर्म का ग्राहक-चन्दा आगामी अंक (३६) के साथ समाप्त हो जायगा; इसलिये आगामी (चौथे) वर्ष का चन्दा ३/- रुपया शीघ्र ही मनीओर्डर से भेजने की कृपा करें। वी.पी. भेजने से आपको व्यर्थ ही चार आने की हानि होगी।

# व्यवहार का अस्तित्व और उसकी हेयता

(श्री समयसार, मोक्ष अधिकार, गाथा २९७ के प्रवचन से)

प्रज्ञा के द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूप को जानना कि मैं चैतन्य हूँ, और दूसरे अन्य सब भाव मुझसे पर हैं; यह जानकर चैतन्यस्वभाव में लीन होना और राग का त्याग करना ही मोक्ष का उपाय है।

यहाँ बाह्य आचरण की कोई बात नहीं है क्योंकि बाहर की शरीरादि वस्तुयें आत्मा से भिन्न हैं, उनकी क्रिया को आत्मा नहीं कर सकता, इसलिये उसे करने की बात कैसे हो सकती है ?

**प्रश्न**—यह ठीक है कि-पर वस्तुओं से आत्मा भिन्न है, इसलिये उसकी बात नहीं कही, किन्तु इसमें व्यवहार कहाँ है ?

**उत्तर**—शुद्धात्मा को जानने की बात कही, सो यही व्यवहार है। यद्यपि मोक्षमार्ग में बीच में व्यवहार आता है, किन्तु परमार्थ के जाननेवाले ज्ञानी उसे हेय समझते हैं, और व्यवहार को धिक्कार-धिक्कार करते हैं। जैसे ब्राह्मण रसोई घर में कुत्ते को न आने देने के लिये लकड़ी लेकर तैयार बैठा रहता है और कुत्ते को अन्दर नहीं घुसने देता, उसे देखते ही धुत्कार देता है; इसी प्रकार मोक्षमार्ग के साधक ज्ञानीजन, व्यवहार को रोकने के लिये प्रज्ञा लेकर बैठे हैं। अर्थात् शुद्धात्मस्वरूप का साधन करते हुऐ यदि बीच में रागरूप व्यवहार आ जाये तो वे प्रज्ञा के द्वारा उसका निषेध करते हैं। तथापि व्यवहार आता तो है ही! यदि व्यवहार हो ही नहीं, तो निषेध किसका ? समझना और समझाना व्यवहार है। इस तत्व की बात को सुनने में जो शुभभाव होता है, सो व्यवहार है। यह सच है कि व्यवहार आता है, किन्तु ज्ञानी उसे अच्छा नहीं कहते। निश्चय और व्यवहार-दोनों को अच्छा कैसे कहा जा सकता है ? शुद्ध चैतन्यस्वरूप निश्चय और पर्याय के भेद तथा राग का आना व्यवहार है। इन दोनों को ज्ञानी जानते तो हैं परन्तु राग, आत्मा के लिये लाभदायक है, ऐसा नहीं मानते। व्यवहार हेयबुद्धि से जाननेयोग्य है; किन्तु यदि व्यवहार को उपादेयरूप से जाने तो उसे निश्चय-व्यवहार का सच्चा ज्ञान नहीं है। पहले साधकदशा में छोड़ने की दृष्टि से व्यवहार बीच में आता है, ऐसा ज्ञानी जानते हैं, इसलिये वे परमार्थ शुद्धस्वभाव की ओर उन्मुख होते हैं। किन्तु पहले से ही शुभराग करने की जिसकी दृष्टि हो, वह अपना लक्ष व्यवहार से हटाकर निश्चय शुद्धस्वभाव पर नहीं करता, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि ही रहता है। इसमें व्यवहार

कहाँ नहीं आया और वह कहाँ आदरणीय रहा ? व्यवहार सब जगह आता है, किन्तु वह कहीं भी आदरणीय नहीं है।

'मैं चैतन्य हूँ' यह विचार करना भी व्यवहार है। ऐसा व्यवहार, वीतराग के होता है या साधक के ? जो वीतराग हो चुके हैं, उनके ऐसा विचार नहीं होता, तथा अज्ञानी के भी ऐसा व्यवहार यथार्थ नहीं होता। जो साधक ज्ञानी हैं, वे आत्मा के शुद्धस्वरूप को जानते हैं, और उसमें स्थिर होने से पूर्व जो विकल्प होता है कि मैं चेतक हूँ, सो व्यवहार है। मैं चैतन्य हूँ, इस प्रकार स्वभाव का अस्तित्व ज्ञात होने पर, मैं रागी-द्वेषी नहीं हूँ—ऐसा नास्ति का ज्ञान हो ही जाता है। मैं शुद्ध चैतन्य ज्ञातादृष्टा हूँ, राग मेरे स्वभाव में नहीं है, इसलिये वह जीव नहीं किन्तु अजीव है। इस प्रकार भेदज्ञान की प्रतीति जिसे अपने आत्मा में जम जाये, वही भेदज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा का ग्रहण और राग का त्याग करता है। अर्थात् वह शुद्ध परमार्थ आत्मस्वभाव को ही आदरणीय मानता है, और व्यवहार को जानता है, किन्तु उसे आदरणीय नहीं मानता। शुद्ध चैतन्य के अतिरिक्त दूसरे सब भावों को आत्मस्वभाव से पर जानकर हेय समझता है।

× × × ×

धर्म में आन्तरिक परिणामों की धारा देखने की सूक्ष्म बात है, उसमें शुभभाव पर कोई भार नहीं है। यहाँ कोई कह सकता है कि 'इससे तो हमारे शुभभावों पर प्रहार होता है, उनका कोई मूल्य नहीं रह जाता!' किन्तु हे भाई! यहाँ तत्त्व के समझने में और उसके विचार करने में जो शुभभाव सहज ही आते हैं, वैसे उच्च शुभभाव क्रियाकांड में नहीं होते। यदि एक घंटे भर ध्यान रखकर तत्त्व को सुने तो भी शुभभाव का भंडार भर सकता है, और शुभभाव की सामायिक हो सकती है। फिर यदि चैतन्य की जागृति करके निर्णय करे तो उसकी तो बात ही क्या है ? यदि तत्त्वज्ञान का विरोध न करे और ज्ञानी का क्या कहना है, इसे सुनता रहे तो उसमें शुभराग का जो पुण्य-बंध होगा, उसकी अपेक्षा परमार्थ के लक्षसहित सुननेवाले को उत्कृष्ट पुण्य के शुभभाव हो जाते हैं। यदि तत्त्व के सुनने में शुभभाव रखे तो ऐसा शुभ सुनने का योग्य पुनः मिले, किन्तु उस पुण्य का क्या मूल्य है ? पुण्य से मात्र सुनने को मिले, किन्तु उसमें अपने को मिलाकर सत्य का निर्णय न करे तो सब व्यर्थ है। तब फिर पुण्य से धर्म होता है, ऐसा माने और आंतरिक गुणों में उसे सहायक माने तो उसका तो निषेध है ही। पुण्यबंध विकार है, उसे धर्म मानने से ज्ञानीजन निषेध करते हैं। पुण्य विकार है, उससे अविकारी आत्मधर्म नहीं होता, इसलिये पुण्य का निषेध किया है, किन्तु इससे पुण्य

छोड़कर पाप में प्रवृत्त होने को नहीं कहा है। अशुभ से बचने के लिये शुभभाव ज्ञानी के भी होता है, किन्तु उससे धर्म होगा, यह मानकर यदि कोई शुभभाव करे तो उससे कभी भी अविकारी आत्मा को कोई लाभ नहीं हो सकता।

आज तक कभी भी ऐसी बातें सुनने की ओर उत्साह नहीं बताया, और दुनिया में पुण्य-पाप करने की बातें ही सुनने को मिलती रही हैं। किन्तु जब लोग यहाँ धर्म श्रवण करने के लिये आते हैं तो उन्हें ऐसी सूक्ष्म बातें सुनने को मिलती हैं, इसलिये वे घबरा उठते हैं कि यह कुछ हमारी समझ में नहीं आता। किन्तु वे लौकिक कला में तो जरा भी अजान नहीं रहते, वहाँ बारीक से बारीक बात समझ लेते हैं।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

# सत्य पुरुषार्थ-भगवती प्रज्ञा

: श्री समयसार-मोक्ष अधिकार के प्रवचन से :

'कर्म उदय से जीव, रागादि करता है', यह कहकर यह बताया है कि राग के समय निमित्त होता है। शास्त्रों में निमित्त का ज्ञान कराने के लिये उसका वर्णन किया है, परन्तु उन निमित्तों का आत्मा पर प्रभाव और बल है, यह बताने के लिये नहीं कहा है।

निमित्ताधीन होनेवाला विकार, आत्मा का सच्चा स्वरूप नहीं है, यह बताकर स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ जागृत करने के लिये यह कहा है कि विकार, कर्मों के निमित्त से होता है, किन्तु स्वभाव को न देखकर, निमित्त को ही पकड़ लिया; इसीलिये अज्ञान बना रहा। इसलिये अब स्वभाव की ओर दृष्टि कर और निमित्ताधीन दृष्टि को छोड़ दे।

भगवान की दिव्यध्वनि का उपदेश धर्मोदय की वृद्धि के लिये ही है। भगवान के आगम के एक भी शब्द में से यदि पीछे हटने का आशय निकाले तो यह स्पष्ट है कि वह जीव, भगवान के उपदेश के एक शब्द को भी नहीं समझ पाया; और उसे पुरुषार्थ हीनता ही अनुकूल पड़ गई है, जिससे वह भगवान की वाणी में से भी अपनी पुरुषार्थ हीनता को ही पुष्ट करता है।

'मैं अपने सम्पूर्ण पुरुषार्थ द्वारा अपने स्वभाव धर्म की पूर्णता करूँ, और सभी जीव करूँ शासनरसी; इस प्रकार आत्मप्रतीतिपूर्वक उत्कृष्ट शुभभाव के द्वारा बद्ध तीर्थंकर नामकर्म का उदय होने पर सर्वज्ञदेव की जो रागरहित दिव्यध्वनि प्रगट होती है, उसमें भी स्वभाव की पूर्णता का ही निमित्त है। भव्य जीवों को वह पुरुषार्थ प्रेरित करता है, और उपदेश देता है कि हे भव्य जीवो!

तुम्हारा स्वभाव पुरुषार्थ से परिपूर्ण है, स्वभाव की प्रतीति से पुरुषार्थ को संभालो, अल्पकाल में ही तुम्हारी मुक्ति है। यह सत्य पुरुषार्थवान वीरों का मार्ग है। इस प्रकार जिनवाणी सत्य पुरुषार्थ की ही घोषणा करती है। जैसे निमित्तरूप वाणी पूर्ण पुरुषार्थ की भावना के योग से प्रगट हुई है, वैसे ही सुननेवालों के उपादान के लिये भी वह वाणी पूर्ण पुरुषार्थ की भावना का ही निमित्त है। इस प्रकार उपादान-निमित्त की सन्धिपूर्वक अविरल-निष्कंटक जिनमार्ग प्रवर्तमान है।

यदि कोई स्वभाव को समझने का सत्यपुरुषार्थ न करे और कहे कि—"क्या किया जाये! भगवान ने निकाचितकर्म कहा है, उस कर्म के सामने जीव का पुरुषार्थ नहीं चलता।" किन्तु अरे कापुरुष! क्या भगवान ने तुझे पुरुषार्थ न करने को कहा है? तेरे स्वभाव में तो ऐसा पुरुषार्थ विद्यमान है कि जो निकाचितकर्म को भी क्षणभर में उड़ा सकता है, यह बताने के लिये ही निकाचितकर्म का ज्ञान कराया है। यदि तू पुरुषार्थ करे, तो क्या कर्म तेरा हाथ पकड़ कर रोकते हैं? स्वयं सत्य पुरुषार्थ नहीं करना है, इसीलिये कर्म के नाम पर पुरुषार्थ हीनता को पुष्ट करता है। किन्तु कर्म के और उसके निमित्त से होनेवाले विकारभाव मेरे शुद्धस्वरूप में नहीं हैं; इस प्रकार शुद्धस्वभाव की प्रतीति से, स्वभावधर्म की वृद्धि के लिये ही भगवान की वाणी है। **जो आत्मा के सत्य-पुरुषार्थ भाव को किसी भी प्रकार से अंशमात्र पराधीन मानते हैं, उन जीवों ने आत्मस्वभाव स्वीकार नहीं किया, भगवान की वाणी को स्वीकार नहीं किया और अप्रतिहत परमपुरुषार्थवान तीर्थंकरों को भी नहीं माना।**

शुद्धात्मस्वभाव, विकार तथा विकार में निमित्तभूत कर्म इत्यादि सब ज्यों के त्यों भगवान की वाणी में कहे गये हैं। उसे सुनकर शुद्धस्वभाव का पक्ष ग्रहण करने की जगह कर्म की मुख्यता करके, स्वभाव को हीन मानता है, उस जीव को स्वभाव के प्रति अरुचि, और कर्मों के प्रति रुचि है। उसे पुरुषार्थ के सत् निमित्तों की देव, गुरु, शास्त्र की यथार्थ श्रद्धा वहीं है। ज्ञानियों ने उस कर्मदृष्टि वाले पुरुष को यथार्थ समझ में से भी अलग कर दिया है, अर्थात् उसे यथार्थ की समझ ही नहीं है, तब फिर उसके व्रत या त्याग कहाँ से हो सकता है?

सम्यक्ज्ञान में तीक्ष्ण पुरुषार्थ भरा हुआ है, इसलिये श्री समयसार में उसे बारम्बार 'प्रज्ञाछैनी' कहा है। आत्मस्वभाव और बन्ध के स्वरूप को जानकर जो जीव, बन्ध के प्रति विरक्त होते हैं, अर्थात् आत्मस्वभाव के प्रति पुरुषार्थवान होते हैं, वे जीव मुक्त होते हैं।

जीव और बंध दोनों को अलग करने का साधन एकमात्र 'भगवतीप्रज्ञा' ही है, उस प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा छेदने पर आत्मा और बंध दोनों अलग हो जाते हैं।

तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनी को अप्रमाद होकर चलाने पर आत्मा और बंध दोनों अलग दिखाई देने लगते हैं। ज्ञानीजन प्रज्ञाबुद्धि से जानते हैं कि कर्म मेरे स्वभाव में हैं ही नहीं, तो फिर वह मेरा क्या कर सकते हैं ? मेरा पुरुषार्थ तो स्वतंत्र ही है,–ऐसी प्रतीति होने से ज्ञानी के प्रत्येक पर्याय में पुरुषार्थ की वृद्धि होती है। यह सब महिमा भगवती प्रज्ञा की ही है। भगवती प्रज्ञा स्वतंत्र आत्मस्वभाव को बतानेवाली है। जो यह मानते हैं कि कर्म हैरान करते हैं, वे भगवती प्रज्ञा से रहित हैं, शास्त्रों ने उन्हें मिथ्यादृष्टि कहा है।

समयसार में किसी भी प्रकार से यत्नपूर्वक प्रज्ञा–छैनी को चलाकर आत्मा और बंध को अलग करने का पुरुषार्थ बताया है।

यहाँ मात्र सम्यक्ज्ञानयुक्त पुरुषार्थ की ही बात है। प्रज्ञावान पुरुष कभी भी पुरुषार्थ में शंका नहीं करते। इस कथन में उन लोगों को यथार्थ समझ के क्षेत्र से अलग कर दिया है, जो स्वभाव –सामर्थ्य को न तो समझते हैं और न समझने का पुरुषार्थ ही करते हैं तथा जो मात्र कर्मों का दोष निकाला करते हैं। वे जीव, भगवान की दिव्यध्वनि के यथार्थ आशय को नहीं समझते और न वे धर्म के लिये ही योग्य हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि स्वभाव के पुरुषार्थ की यह बात सुनकर जिसके अंतरंग में आत्म –पुरुषार्थ की इनकार न हो, और जो कर्म की ही बातें करके पुरुषार्थ हीन बना रहे, वह हमारे वीतराग मार्ग से अलग है। जिसे स्वभाव रुचि नहीं है, और जो स्वभाव का पुरुषार्थ नहीं करना चाहता, तथा जिसे संसार के प्रति रुचि है एवं जो कर्म को बलवान मानता है, ऐसे जीव को कर्म की बात का विश्वास झट आ जाता है। ऐसे लोग यह शंका किया करते हैं कि कर्मों का तीव्र उदय आने पर हम गिर जायेंगे, क्योंकि वे स्वभाव के सम्बन्ध मैं नि:शंक नहीं हैं, जब ज्ञानी इस प्रकार नि:शंक रहता है कि कर्म का चाहे जैसा उदय आये तो वह मुझे गिरा नहीं सकता। कर्म का तीव्र उदय आयेगा, तो वह कर्म में आयेगा, मैं तो आत्मा में तीव्र पुरुषार्थ करके, केवलज्ञान प्राप्त कर लूंगा, मेरे पुरुषार्थ को कर्म रोक नहीं सकते। ज्ञानी के स्वभाव की नि:शंकता होने से उसे गिरने की शंका नहीं होती।

आचार्यदेव और परमागम शास्त्र ऐसे परम पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हैं तो भी जड़ कर्मों और निमित्त की आड़ लेकर जीव, पुरुषार्थ हीन क्यों होते हैं ? इस प्रकार ज्ञानियों को आश्चर्य होता है। वे जड़ कर्म के उदय की बात करते हैं, किन्तु चेतन की शक्ति का विश्वास क्यों नहीं करते ? वे जड़

को लक्ष में रखकर यह शंका तो करते हैं कि यदि कर्मों का उदय आयेगा तो हम गिर जायेंगे, किन्तु अपने स्वभाव के लक्ष से अपने पुरुषार्थ की इस प्रकार प्रतीति क्यों नहीं करते कि हम अल्पकाल में ही पूर्ण पुरुषार्थ करके वीतराग होकर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे और उदय के सामने भी नहीं देखेंगे, अर्थात् उदय का अभाव अवश्यम्भावी है।

इसका कारण यही है कि उन जीवों को अपने आत्मा की यथार्थ चिनता ही नहीं है। जो अपने ऐसे स्वभाव का विश्वास करते हैं कि वह कर्म के स्पर्श से रहित त्रिकाल परिपूर्ण मोक्ष स्वभाव है, वे जीव ही धर्म प्राप्त करने के योग्य हैं। जिन्हें अपने मोक्षस्वभाव का विश्वास नहीं और कर्म का विश्वास है, उन जीवों को बंध-स्वभाव का (संसार का) विश्वास है; ऐसे जीव वीतराग धर्म को समझने के योग्य नहीं है।

यहाँ तो स्वभाव के लक्ष से विश्वास करके जो सुनने को आये हैं, ऐसे सुननेवाले जीवों को भी अल्पकाल में ही मोक्ष प्राप्त करनेवालों में ही स्थापित किया है। जिन्होंने अपने मोक्षस्वभाव को स्वीकार किया है, उन्हें मोक्ष होने में अधिक समय नहीं लग सकता। जिन्होंने आत्मा की अपूर्व महिमा को स्वीकार नहीं किया है, और जो कर्म के ज्ञान में संतोष मान बैठे हैं, ऐसे जीवों को मोक्षमार्ग की पात्रतावालों में नहीं गिना है, यह तो तीर्थंकरों का मार्ग है, जिसमें स्वभाव को प्रसन्न करना है, जगत को नहीं। स्वभाव मार्ग में रें-रें नहीं चल सकती कि अरे! मेरा क्या होगा? यहाँ तो अंतरंग से नि:शंक श्रद्धा होनी चाहिये कि—'मैं आत्मा हूँ, आत्मा के भव नहीं हो सकता, भव आत्मा का स्वरूप नहीं है।' यहाँ विचार भी भवरहितता के होते हैं, और स्वप्न भी सिद्धदशा के आते हैं!

प्रभो! तेरी प्रभुता की क्या बात कहें! प्रत्येक शब्द में और प्रत्येक पर्याय में तेरी ही महिमा है; एक चैतन्यभाव ही तुझे अनुकूल है, इसके अतिरिक्त जगत में कोई भी भाव तुझे अनुकूल नहीं है। तेरा आत्मा ही चैतन्य भगवान-प्रभु है, यह मानकर उसी में स्थिर हो। आत्मदर्शन की जिनदर्शन है। श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है कि:—

**जिन है सोही आत्मा, पर है सोही कर्म।**
**इन वचनों से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म॥**

जिनस्वरूप ही आत्मा है। यह आत्मा स्वयं जिनस्वरूप ही है, अन्य सब रागादि भाव कर्मस्वरूप हैं-जड़ हैं। जो जीव, चैतन्यस्वभाव भगवान आत्मा के बल को मानता है, वह जैन है; और जो कर्म के बल को मानता है, वह जैन नहीं, किन्तु अन्यमत वाला है। इस प्रकार समयसार के इन पुरुषार्थमूलक सूत्रों के द्वारा उनकी मान्यता का निराकरण किया है।

जड़कर्म और विकार भाव दोनों क्षणिक हैं। बन्धन को जाननेमात्र से उससे मुक्ति नहीं होती, किन्तु बन्धन को काटनेवाला जो बन्धनरहित नित्यस्वभाव है, उसे जानने से बन्धन का नाश होता है।

कहाँ तो कर्मबन्धरहित चैतन्य भगवान आत्मा का स्वभाव और कहाँ चेतनतारहित जड़ कर्मों का स्वभाव? दोनों को जाननेवाला चैतन्य भगवान है। यदि वह अपने ज्ञायकस्वभाव की शक्ति का विश्वास न करे, और मात्र जड़ कर्मों को ही माने तो किसके बल पर बन्धन काटेगा? जिसका कर्मप्रकृति पर लक्ष है, और जिसे उपादान के बल की प्रतीति नहीं है, उसने स्वभाव को ही स्वीकार नहीं किया। जहाँ अंतरंग स्वभाव को स्वीकार किया, वहाँ निमित्ताधीनता का निषेध हो गया-परावलम्बन छूट गया, अर्थात् अब मात्र स्वभाव के लक्ष से भव का अभाव ही है। निमित्त कर्मों का लक्ष होने से मुक्ति नहीं होती, किन्तु सत्यपुरुषार्थ के द्वारा उपादान का लक्ष, उसकी प्रतीति और स्थिरता करने से ही मुक्ति होती है। इसलिये चेतन आत्मा में जड़ कर्मों का अस्तित्व ही नहीं, यह समझकर आत्मस्वरूप के प्रति स्वतंत्र-स्वाधीन सत्यपुरुषार्थ करना चाहिये। ●●●

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

# सत्य क्या है ?

श्री समयसार, मोक्ष अधिकार के प्रवचन से

**[ बहुत समय से सुनते आ रहे हैं, और जिसे बहुत से लोग कहते हैं, वह अथवा कोई दूसरा वास्तविक सत्य है ? ]**

**प्रश्नः**—ज्ञानी कहते हैं कि सम्यक्-ज्ञान से ही धर्म होता है, शारीरिक क्रियादि से नहीं; किन्तु हम तो बहुत समय से यह सुनते और मानते आ रहे हैं कि पुण्य करते-करते और शारीरिक क्रिया से धर्म होता है; क्या यह सब मिथ्या है ?

**उत्तरः**—बहुत समय से सुनते और मानते आ रहे हैं, इसलिये वह सच हो-ऐसी बात नहीं है। काल की मर्यादा से सत्य-असत्य की परीक्षा नहीं होती। अनन्त-काल से संसारभाव करते आये हो, और क्षणभर का भी मोक्षभाव नहीं किया, इसलिये क्या संसारभाव को अनन्तकालीन-पुराना होने से सच मान लिया जाये? अनन्तकालीन संसारभाव दूर करके क्षणभर में मोक्ष-मार्ग (सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र भाव) प्रगट हो सकता है।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि—"हम तो अनन्त-काल के संसारी हैं, और आप (सर्वज्ञभगवान) तो अभी ही केवली हुऐ हैं, इसलिये आप की अपेक्षा हमारा अति प्राचीन संसार

ही अच्छा है!'' किन्तु भाई! केवल पर्याय नई होने से क्या? संसार तो सभी जीवों के अनादिकाल से है, उसमें कोई अपूर्वता नहीं है, परन्तु जो जीव, सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके संसार-भाव को दूर करके मुक्ति को प्राप्त हुऐ हैं, उन्होंने अपूर्व पवित्रता प्रगट की है। अधिक काल या कम काल पर अच्छा या बुरा अवलंबित नहीं है परन्तु सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्रभाव ही (अल्पकालीन होने पर भी) अच्छा है, और मिथ्यात्वादि भाव (अति प्राचीन होने पर भी) बुरे हैं। अनन्तकालपूर्व, वर्तमान में या अनन्तकाल पश्चात् भी प्रत्येक जीव को सम्यक्दर्शनादि भाव से ही धर्म होता है; उसके बिना किसी जीव को कभी भी धर्म नहीं हो सकता। एक जीव अनन्तकाल पहले सिद्ध हुआ हो और दूसरा अभी ही सिद्ध हुआ हो, किन्तु दोनों के भाव की पवित्रता समान है, इसलिये दोनों का सुख भी एक-सा ही है। अनन्तकालपूर्व और वर्तमान में सिद्ध होनेवालों के सुख में कोई न्यूनाधिकता नहीं होती।

इससे यह समझना चाहिये कि—'शरीर की क्रिया मेरे द्वारा होती है या पुण्य से धर्म होता है', यह मान्यता अति प्राचीन समय की हो तो भी वह विपरीत-भाव है, उससे हानि ही है, और 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, सच्चे ज्ञान से ही धर्म होता है, पुण्य से धर्म नहीं होता, तथा शरीर इत्यादि परद्रव्यों की क्रिया मैं नहीं कर सकता'—ऐसी यथार्थ समझ पहले कभी नहीं की, तथापि जब ऐसी सच्ची समझ के द्वारा सम्यक्दर्शनादि प्रगट करता है, तब उस भाव के पवित्र होने से उसके द्वारा धर्म होता है। पवित्र भाव ही धर्म है। कोई भी जीव जब अज्ञान को दूर करके सम्यक्-ज्ञान प्रगट करता है, तब उस जीव के लिये तो वह नया ही है, किन्तु यदि अनादि-सनातनमार्ग की अपेक्षा से देखा जाये तो वह भाव नया नहीं है, किन्तु पहले अनन्त जीव उस भाव से धर्म प्राप्त कर चुके हैं, और उसी भाव से प्रत्येक जीव धर्म प्राप्त करता है। जिसे आत्मा के सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप पवित्र भावों का परिचय नहीं है, वह विकार और जड़ से आत्मा की महिमा मानता है। किन्तु हे भाई! जड़ से या विकार से चैतन्य-प्रभु की महिमा नहीं होती, यह तो एक कलंक है।

चैतन्यस्वभाव की महिमा सुनकर कोई कहता है कि—''आप तो मात्र ज्ञान की ही बात करते हैं, कहीं कुछ शारीरिक क्रिया करने की तो बात ही नहीं करते? आप सदा ज्ञान की ही महिमा गाते हैं, किन्तु कभी पाँच-दस उपवास तो कर देखिये, और हमारी भाँति त्याग, व्रत, सामायिक आदि भी तो कीजिये? आपको तो व्रत उपवास इत्यादि शुभभाव किये बिना यों ही मोक्ष चाहिये हैं?'' किन्तु भाई! शरीर की क्रिया जड़ है और शुभभाव विकार हैं; उनके द्वारा तू अपनी महिमा प्रगट करना चाहता है? विकारभाव से अपना बड़प्पन मान रहा है? जन्म-मरण का अन्त

लानेवाला जो निर्दोष-निष्कलंक वीतरागविज्ञान है, उसकी महिमा को तू नहीं समझता, और चैतन्य को कलंक लगानेवाले रागादि विकारों को महिमामय मान रहा है, यह घोर मिथ्यात्व है। जो अनन्तकाल में भी प्राप्त नहीं हुआ, और जो अनन्तसंसार का अन्त करनेवाला है, ऐसा सम्यक्ज्ञान तुझे व्यर्थ मालूम होता है, और ज्ञान के बिना शुभराग एवं शारीरिक क्रियाओं में तुझे उत्साह होता है? किन्तु इससे तूने क्या किया? मात्र राग करके उसके द्वारा चैतन्य की महिमा मानी, अर्थात् चैतन्य के वीतरागस्वभाव की हत्या करके विकार द्वारा बड़प्पन माना है। स्वभाव को कलंक लगाकर प्रगट हुई विकारपरिणति में धर्म माना; और स्वभाव की वृद्धि करनेवाली, निर्दोष, निष्कलंक सीधी प्रगट हुई जो चेतना-परिणति है, वही पवित्र धर्म है, उसकी महिमा नहीं की; इससे स्पष्ट है कि तुझे धर्म-अधर्म के स्वरूप की ही खबर नहीं है।

अज्ञानी जीव को विकारयुक्त क्रिया अच्छी लगती है, और निर्विकार ज्ञानक्रिया उसके मन में नहीं जमती। एकमात्र सम्यक्ज्ञान के बिना अनन्तबार शुभकरनी की, व्रत, उपवासादि के शुभभाव किये, और बाह्य त्यागी भी हुआ, परन्तु अज्ञान-दैत्य उस सब को यों ही चबा गया।

अज्ञानी कहते हैं कि—'क्या आप मात्र ज्ञान से मोक्ष लेना चाहते हैं?' किन्तु भाई! मात्र ज्ञान का अर्थ, रागरहित ज्ञान है। यदि इस ज्ञान से मुक्ति न होगी तो क्या तुझे विकार से और जड़ से मुक्ति प्राप्त करनी है? मात्र ज्ञान से ही मुक्ति होती है। ज्ञान की स्वरूप में स्थिरता ही चारित्र है।

**प्रश्न:**—क्या कष्ट सहन किये बिना मोक्ष हो सकता है?

**उत्तर:**—कष्ट सहन करना तो दु:ख ही है, जो कि मोक्ष का कारण नहीं हो सकता, किन्तु मोक्ष का कारण सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही है। धर्म, दु:खदायक नहीं होता। यदि धर्म में कष्ट हो, तब तो धर्म भी दु:खदायक कहलायेगा।

लोग सम्यक्ज्ञान से पूर्व व्रतादिरूप चारित्र चाहते हैं, परन्तु सच्चा ज्ञान प्राप्त करना ही प्रथम चारित्र है। जगत के समस्त परद्रव्यों, और परभावों को स्वभाव से भिन्नरूप जानकर उन सबका स्वामित्व छोड़ दिया, इसलिये ज्ञान स्वयं ही प्रत्याख्यान है। किन्तु बाहर से देखनेवाले मात्र बाह्यत्याग को ही चारित्र मानते हैं। अज्ञान को दूर किया कि अनंत भव दूर हो गये, यह महान-त्याग उन्हें भासित नहीं होता। सच्चा ज्ञान करना ही प्रथम चारित्र है। जो सम्यक्-ज्ञान को ही नहीं मानते, वे चारित्र कहाँ से लायेंगे? सम्यक्ज्ञान प्रगट होने के बाद ज्यों-ज्यों वह ज्ञान आत्मस्वरूप में स्थिर होता जाता है, त्यों-त्यों राग दूर होता जाता है, और राग के दूर होने पर बाह्यत्याग तो स्वयं हो ही जाता है।

# तत्त्व-चर्चात्मक संवाद

**सुरेश**—एक जीव धर्मी है, उससे यदि कोई तुच्छ या निर्माल्य कहे तो भी उसे शंका नहीं होती, इसका क्या कारण है ?

**दिनेश**—क्योंकि उस धर्मात्मा जीव को ऐसी आन्तरिक सुदृढ़ प्रतीति है कि मैं आत्मा हूँ, और सदा अनन्त गुणों के समूह से परिपूर्ण हूँ। इस प्रकार अपने स्वभाव का मूल्य ज्ञात होने से उसे शंका नहीं होती।

**सुरेश**—यदि कोई तुम्हें चुपचाप शांत बैठा हुआ देखकर कहे कि तुम निठल्ले या आलसी हो तो तुम्हें दु:ख होगा या नहीं ? यदि नहीं होगा तो क्यों ?

**दिनेश**—मुझे दु:ख नहीं होगा, क्योंकि मुझमें वस्तुत्वगुण है, इसलिये मैं प्रतिसमय प्रयोजनभूत कार्य कर ही रहा हूँ। मेरे ज्ञान, श्रद्धा, सुख, पुरुषार्थ इत्यादि अनन्त गुणों की दृढ़ता का कार्य मेरी द्रव्यत्वशक्ति से प्रतिसमय परिणमित हो रहा है, इसलिये मैं आलसी नहीं हूँ। लोग जो बाहर से अनुमान करते हैं, सो ठीक नहीं है। स्वरूप में अनुत्साह का होना ही आलस है, और उत्साह का होना ही यथार्थ प्रयत्न है।

**सुरेश**—यदि कोई कहे कि आत्मा में रुपया, पैसा इत्यादि कुछ नहीं है, इसलिये वह सर्वथा निर्माल्य है, तुम इसे मानोगे या नहीं ?

**दिनेश**—यह सच है कि आत्मा में रुपया, पैसा इत्यादि नहीं है, परन्तु वह इसीलिये निर्माल्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें श्रद्धा, ज्ञान, सुख, आनन्द, वीर्य इत्यादि अनन्त-गुण विद्यमान हैं, तब फिर अनन्त-गुणयुक्त आत्मा को निर्माल्य कैसे कहा जा सकता है ?

**सुरेश**—यदि आत्मगुणों को बढ़ाना हो तो बढ़ाये जा सकते हैं या नहीं ?

**दिनेश**—गुण बढ़ाये नहीं जा सकते, क्योंकि वे त्रिकाल हैं, कोई नवीन गुण नहीं हो सकता। किन्तु गुणों की पर्यायों की निर्मलता बढ़ाई जा सकती है। अगुरुलघुत्व गुण होने से वस्तु में जितने गुण हों, उतने ही त्रिकाल रहते हैं, उनमें कोई घटा-बढ़ी नहीं होती।

**सुरेश**—यदि गुण बढ़ाये नहीं जा सकते तो फिर जिसमें गुणों की कमी हो, उसके गुण पूरे कैसे होंगे ?

**दिनेश**—किसी में गुण कम नहीं होते, सभी आत्माओं में गुण पूरे के पूरे सदा विद्यमान रहते हैं, वे कम नहीं होते किन्तु उनकी पर्याय अपूर्ण होती है। 'इस जीव के कम गुण हैं' ऐसा कहा

जाता है, परन्तु वास्तव में वहाँ गुण कम नहीं किन्तु गुण की पर्याय कम (अपूर्ण) हुई है, ऐसा समझना चाहिये। गुण तो पूरे के पूरे हैं, इसे जीव नहीं जानता, इसलिये पर्याय अपूर्ण है, यदि अपने सम्पूर्ण गुणों को पहिचानकर जीव उनमें स्थिर हो तो पर्याय सम्पूर्ण प्रगट हो जाये। इसलिये पहले आत्मा के द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप पहिचानना चाहिये।

**सुरेश**—तुम आत्मा हो, जब तुम घर से यहाँ आये, तब तुम्हारे शरीर को तुम्हारे साथ बलात् आना पड़ा या नहीं ?

**दिनेश**—नहीं, शरीर बलात् नहीं आया। आत्मा और शरीर दोनों पृथक् पदार्थ हैं, इसलिये एक दूसरे का कुछ नहीं कर सकते, आत्मा अपने कारण से आया है, और शरीर अपने कारण से। शरीर के जड़ परमाणुओं में द्रव्यत्व नामक शक्ति है, इसलिये वे परिणमित होकर यहाँ आये हैं, परन्तु आत्मा के कारण शरीर नहीं आया, तथा शरीर के कारण आत्मा नहीं आया, दोनों पदार्थ स्वतंत्र हैं।

**सुरेश**—जीव और पुद्गल में क्या अंतर है ?

**दिनेश**—जीव में ज्ञान है और पुद्गल में ज्ञान नहीं। पुद्गल रूपी है और जीव अरूपी।

**सुरेश**—पुद्गल में ज्ञानगुण क्यों नहीं होता ?

**दिनेश**—पुद्गल जड़-रूपी है, इसलिये उसमें ज्ञान नहीं होता। ज्ञान अरूपी है और पुद्गल रूपी है। रूपी-वस्तु के समस्त गुण रूपी ही होते हैं, अरूपी नहीं।

**सुरेश**—पुद्गल रूपी है, और ज्ञान अरूपी है, यह कैसे जाना ?

**दिनेश**—जो रूपी वस्तु होती है, वह इन्द्रियों के द्वारा जानी जा सकती है; पुद्गल रूपी हैं, इसलिये इन्द्रियों के द्वारा जाने-जाते हैं। जो आँख से दिखाई दे, नाक से सूंघा जाये, कान से सुना जाये और जीभ से चखा जाये तथा चमड़ी से स्पर्श किया जाये, सो सब रूपी पुद्गलद्रव्य है; और ज्ञान अरूपी है, इसलिये वह पुद्गल की भाँति इन्द्रियों के द्वारा विषय नहीं किया जा सकता। किसी भी अचेतन-पदार्थ में ज्ञान नहीं हो सकता।

**सुरेश**—रेडियो में जो शब्द सुनाई देते हैं, क्या वे आकाश में से आते हैं ?

**दिनेश**—नहीं, शब्द आकाश में से नहीं आते। शब्द तो जड़ परमाणुओं की अवस्था है, वह आकाश का गुण नहीं है। बहुत से परमाणु एकत्रित होकर शब्दरूप परिणमित होते हैं, उन्हीं को हम सुनते हैं। परमाणुओं में ही शब्दरूप परिणमित होने की शक्ति है। आकाशद्रव्य उससे अलग है।

**सुरेश**—परमाणु में स्पर्श गुण है, यह कैसे कहा जा सकता है ?

**दिनेश**—क्योंकि पानी इत्यादि पदार्थ ठंडे से गर्म होते हैं, ठंडा और गर्म दोनों स्पर्श गुण की पर्यायें हैं।

**सुरेश**—पानी को ठंडे से गर्म तो अग्नि ही करती है न?

**दिनेश**—नहीं, अग्नि और पानी दोनों पृथक् पदार्थ हैं, इसलिये अग्नि, पानी को गर्म नहीं करती। पानी में अनन्त परमाणुद्रव्य हैं, और उन प्रत्येक परमाणु में स्पर्श गुण विद्यमान है; वह गुण पहले ठंडी पर्याय के रूप में था और फिर वही गुण अपनी शक्ति से उष्ण पर्यायरूप हो गया। उसमें अग्नि इत्यादि ने कुछ भी नहीं किया। पानी के परमाणु अपनी योग्यता से अपने ही कारण स्वयं उष्ण हो गये हैं।

**सुरेश**—यदि पानी अपनी ही योग्यता से गर्म होता हो तो अग्नि आने से पूर्व गर्म क्यों नहीं होता?

**दिनेश**—प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यत्व नाम की शक्ति है, जिसके कारण द्रव्य सदा एक से नहीं रहते, और उनकी अवस्था सदा बदलती रहती है। परमाणुओं में भी द्रव्यत्वगुण होने से उनकी पर्याय बदलती रहती है, इसलिये वे कभी ठंडे, कभी गर्म होते हैं। जो परमाणु ठंडे से गर्म होते हैं, उन्हें अग्नि गर्म नहीं करती, किन्तु वे अपनी द्रव्यत्वशक्ति के कारण ही होते हैं।

**सुरेश**—यदि यह मान लिया जाये कि अग्नि ही पानी को गर्म करती है तो क्या हानि है?

**दिनेश**—यदि यह माना जाये कि अग्नि, पानी को गर्म करती है तो इसका यह अर्थ हुआ कि अग्नि के परमाणुओं में से कुछ परमाणु निकलकर पानी के परमाणुओं में प्रविष्ट होते हैं। किन्तु अग्नि में से गर्मी निकलकर पानी में प्रवेश करती हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में अगुरुलघुत्व नामक शक्ति है, इसलिये एक द्रव्य के कोई गुण या पर्याय दूसरे में प्रवेश नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्याय अपने-अपने में ही रहते हैं। वस्तु की पर्याय बाहर से नहीं आती किन्तु अपने गुण में से ही आती है; इसलिये पानी की उष्णदशा उसके स्पर्श-गुण में से ही आई है, अग्नि के परमाणुओं में से नहीं।

और फिर प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तस्वरूप है, अर्थात् अपने स्वरूप से है और परस्वरूप से नहीं है। इसीलिये पानी, अग्निस्वरूप नहीं हैं, और अग्नि, पानीस्वरूप नहीं है। ऐसा होने से वे एक दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकते। यदि यह माना जाये कि अग्नि ने पानी को गर्म किया है, तो उपरोक्त सारे सिद्धान्त नष्ट हो जायेंगे; अर्थात् द्रव्य के अगुरुलघुत्व आदि समस्त गुणों का नाश हो

जायेगा तथा द्रव्य एक दूसरे में मिल जायेंगे; इसलिये द्रव्य का भी नाश हो जायेगा। इसलिये एक द्रव्य दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकता।

**सुरेश**—यह जानने से क्या लाभ है कि वस्तु में नास्तित्व गुण है ?

**दिनेश**—वस्तु के स्वभाव में जो गुण होता है, उसे जानने से वस्तु का स्वरूप ध्यान में आ जाता है, और उससे सम्यक्दर्शन-सम्यक्ज्ञान होता है। नास्तित्वगुण अर्थात् आत्मा, पररूप नहीं है और परद्रव्य, आत्मारूप नहीं है। ऐसा समझ लेने पर, यदि शरीर में रोग होते हैं तो वह जानता है कि उस रोग की मुझमें नास्ति है; मेरा ज्ञान, रोग से अलग है। मेरा कोई गुण, शरीररूप नहीं है, इसलिये शरीर में रोग होने से मुझे हानि नहीं होती, तथा शरीर यदि निरोग हो तो उससे मुझे कोई लाभ नहीं होता। और शरीर की मुझमें नास्ति होने से मैं शरीर का कोई काम नहीं कर सकता। इस प्रकार नास्तित्वगुण के समझ लेने पर निरंतर स्व-पर के भिन्नत्व का ध्यान रहता है, और इसलिये शांति रहती है। शरीर, रुपया, पैसा इत्यादि के चले जाने से आत्मा में से कुछ भी नहीं चला जाता, क्योंकि ज्ञान-स्वरूप आत्मा में शरीर, रुपया, पैसा इत्यादि की नास्ति है।

**सुरेश**—सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और पुण्यफल के संयोगादि से तुम्हें कोई लाभ होता है या नहीं ?

**दिनेश**—मुझे अपनी सच्ची समझ से लाभ होता है; देव, गुरु, शास्त्र या पुण्यादि से कोई लाभ नहीं होता, क्योंकि उन सब पदार्थों का मेरे आत्मा में अभाव है, मुझमें वे कोई नहीं हैं। जो पदार्थ मेरे आत्मा में नहीं हैं; वे मेरे आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकते।

**सुरेश**—यह समझने से क्या लाभ है कि परपदार्थ से कोई हानि-लाभ नहीं होता ?

**दिनेश**—वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, इसलिये उसे उसी प्रकार समझने से ही सम्यक्ज्ञान होता है। जब जीव यह समझता है कि मुझे परद्रव्यों से कोई हानि-लाभ नहीं है तो परद्रव्यों के प्रति मोहबुद्धि या अहंकार नहीं होता, जिससे राग-द्वेष कम होता है, और सुख-शांति मिलती है। जीव परद्रव्य की पराधीनता मान बैठा है, जो कि सत्य के समझ लेने पर दूर हो जाती है। अपने दोषों से ही अपने को हानि होती है, यह समझ ले तो अपने दोषों को दूर करके उस हानि को भी रोक ले और गुणों का लाभ हो।

**सुरेश**—यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ न करता हो तो इस जड़-देह की व्यवस्था कौन करता है ?

**दिनेश**—जड़-देह में अनन्त रजकण-परमाणु हैं, वे प्रत्येक स्वतंत्र-द्रव्य हैं। उस प्रत्येक परमाणुद्रव्य में द्रव्यत्व, वस्तुत्व आदि गुण हैं तथा उनमें क्रियावतीशक्ति है, जिससे वे हिलते-डुलते हैं, स्थिर होते हैं, शब्दरूप होते हैं, और ठंडे-गर्म होते हैं। शरीर की समस्त अवस्थाओं की व्यवस्था उन परमाणुओं के द्रव्यत्व इत्यादि गुण ही करते हैं, जीव उनकी व्यवस्था नहीं करता। जीव तो मात्र उनका ज्ञाता है। अपने में जो ज्ञान और राग होता है, उसे जीव स्वयं करता है, जड़-शरीर, ज्ञान या राग नहीं कराता, और जड़-शरीर के परमाणुओं में जो हलन-चलन इत्यादि होता है उसे परमाणुओं के गुण ही करते हैं, जीव नहीं, इस प्रकार वस्तुस्वरूप स्वतंत्र है।

**सुरेश**—एक आदमी मर गया है, फिर भी उसका स्नेही व्यक्ति उसे स्नेहपूर्वक खिलाना-पिलाना चाहता है और उससे बातचीत करना चाहता है, किन्तु वह मृतमनुष्य न तो खाता है, न पीता है, न बोलता है; इसलिये उसका स्नेही मनुष्य दुःखी हो रहा है, तो उसके उस दुःख को मिटाने का क्या उपाय है ?

**दिनेश**—यदि स्थूलदृष्टि से देखा जाये तो उसका दुःख दूर करने के दो उपाय हैं। १-या तो वह मुर्दा उस मनुष्य की इच्छानुसार खाये-पिये और बातचीत करे, २-या फिर मुर्दे को खिलाने इत्यादि की उसकी इच्छा दूर हो जाये।

अब विशेष विचार करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है, कि पहला उपाय तो सर्वथा अशक्य है, या यों कहना चाहिये कि वास्तव में वह उपाय ही नहीं, क्योंकि मुर्दा कभी खा-पी नहीं सकता, इसलिये वह जब तक मुर्दे को मुर्दे के रूप में नहीं जानेगा, तब तक उसका दुःख कभी भी मिटनेवाला नहीं है। दूसरा उपाय जीव स्वाधीन होने से कर सकता है। यह मुर्दा है, इसलिये यह न तो खायेगा न पियेगा, इस प्रकार का विश्वास जब तक उस जीव को नहीं होगा, तब तक उसे खिलाने-पिलाने आदि की इच्छा दूर नहीं हो सकती, इसलिये मुर्दे को मुर्दे के रूप में जान लेना ही इच्छा को दूर करके शांति पाने का एक मात्र उपाय है। मुर्दे को मुर्दे के रूप में जानने पर उसे वस्तुस्थिति का सच्चा भान होता है, और ऐसा होने पर मुर्दे को खिलाने इत्यादि की इच्छा दूर हो जाती है, तथा इतने अंश में उसे शांति मिलती है। इस प्रकार सच्चा ज्ञान ही सुख का, तथा अज्ञान दुःख का कारण है।

[ यहाँ मात्र मुर्दे के सम्बन्ध में बात है, इसलिये सच्चे ज्ञान का अर्थ मात्र मुर्दा सम्बन्धी सच्चा ज्ञान समझना चाहिये, सम्यक्ज्ञान नहीं। और यहाँ सुख का अर्थ मुर्दा सम्बन्धी अभाव से जो शांति हुई है, उस अपेक्षा से सुख समझना चाहिये; सर्वथा निराकुलताजन्य सुख नहीं। अब यहाँ सम्यक्ज्ञान और निराकुल सुख के सम्बन्ध में कुछ विशेष स्पष्ट किया जा रहा है।]

**सुरेश**—मैंने उपरोक्त प्रश्न मात्र दृष्टांतरूप में पूछा था, अब सिद्धान्त को समझने के लिये, मेरा यह प्रश्न है कि यह जीव यह मान रहा है कि–यदि शरीर इत्यादि परद्रव्य अच्छे रहें तो मुझे सुख हो, इसलिये वह शरीर इत्यादि परद्रव्यों को अपनी इच्छानुसार बदलने के भाव करता है, किन्तु परद्रव्य इस जीव की इच्छानुसार परिणमित नहीं होते, इसलिये यह जीव निरंतर आकुलता का वेदन करके दुखी हो रहा है; इसलिये दु:ख दूर होने का क्या उपाय है ?

**दिनेश**—यदि स्थूलरूप से देखा जाये तो जीव के दु:ख दूर करने के दो उपाय मालूम होते हैं–या तो जीव की इच्छानुसार ही शरीरादिक सर्व–परद्रव्य परिणमित हों, और या फिर परद्रव्यों को बदलने के भाव ही यह जीव स्वयं बदल डाले।

यहाँ विशेष विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि पहला उपाय तो सर्वथा अशक्य है, अर्थात् वास्तव में वह उपाय ही नहीं; क्योंकि परद्रव्य, जीव से सर्वथा भिन्न हैं, इसलिये वे कभी जीव की इच्छा के आधीन परिणमित नहीं होंगे। परद्रव्य इस जीव की अपेक्षा से मुर्दे हैं। जैसे मुर्दा खाता–पीता नहीं है, इसी प्रकार परद्रव्य भी इस जीव के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखते।

जब तक परद्रव्यों को अपने से भिन्नरूप न जाने, तब तक उसका दु:ख कभी मिटनेवाला नहीं है। यद्यपि पहला उपाय अशक्य ही है, तथापि अज्ञानी जीव वह उपाय करके दु:ख मिटाना चाहता है, किन्तु परपदार्थ उसकी इच्छानुसार परिणमित नहीं होते, इसलिये उसके विपरीतभाव का दु:ख उसे हमेशा बना ही रहता है।

दूसरा उपाय जो कि सत्य है, वह अज्ञानी की समझ में ही नहीं आता, उसे तो ज्ञानी ही समझ सकता है। यह उपाय स्वाधीन है और जीव यही कर सकता है। समस्त परद्रव्य मुझसे सर्वथा भिन्न हैं, मुझमें उनका अभाव है; इस प्रकार जीव को जब तक विश्वास न हो, तब तक परद्रव्य को बदलने की उसकी इच्छा दूर हो ही नहीं सकती। किन्तु यदि परद्रव्यों को अपने से भिन्नरूप जाने, तथा यह विश्वास करे कि मैं उनका कुछ भी नहीं कर सकता तो वह परद्रव्यों को बदलने की इच्छा न करे, किन्तु वे परद्रव्य जैसे स्वतंत्रतया परिणमित होते हैं, उसी प्रकार उन्हें मात्र जानता रहे, और परद्रव्य के चाहे जैसे परिणमन में भी अपने को आन्तरिक आकुलता न हो, क्योंकि उसे यह प्रतीति है कि उन द्रव्यों के परिणमन के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये स्व और पर का भिन्नरूप से सच्चा ज्ञान करना और वे एक दूसरे का कुछ भी नहीं कर सकते—ऐसी प्रतीति करना ही इच्छा को दूर करके शांति होने का एकमात्र उपाय है। स्व–परद्रव्यों को भिन्न जानने पर वस्तुस्थिति का

सच्चा ज्ञान होता है, और ऐसा होने पर यह विपरीत मान्यता दूर हो जाती है कि मैं परद्रव्यों की क्रिया कर सकता हूँ, इसलिये अनन्त परद्रव्यों का अहंकार और उनके कर्तृत्व की अनन्त इच्छा दूर हो जाती है, एवं उतने अंश में स्वाभाविक शांति और सुख प्रगट होता है। इस प्रकार सच्चा ज्ञान ही सुख का और अज्ञान ही दु:ख का कारण है। सर्वत्र-सर्वदा सच्चा ज्ञान ही सुख का एकमात्र उपाय है, इसलिये सच्चा ज्ञान करो।

जीव का स्वभाव ही ज्ञान करना है। वह परद्रव्यों को भी जानता अवश्य है, किन्तु साथ ही यदि पर के करने का अहंकार करता है, सो यही दु:ख का कारण है। जब परद्रव्यों को भिन्नरूप समझता है तब, ज्ञान के साथ परद्रव्य का अहंकार नहीं करता, और इस प्रकार मात्र जो ज्ञान रहा, सो वही सुख का कारण है।

स्वद्रव्य का सच्चा स्वरूप यथार्थतया जाने बिना परद्रव्य का अहंकार नहीं मिट सकता, इसलिये ज्ञान द्वारा अपने शुद्धात्मस्वरूप को पहिचानना चाहिये। ☆


## सुख-स्वरूप के जिज्ञासुओं से

प्रत्येक मनुष्य सुखी होना चाहता है, लेकिन जब तक सुख और सुखी होने वाले का यथार्थ स्वरूप ही समझ में न आये, तब तक त्रिकाल में भी कोई सुखी नहीं हो सकता। क्योंकि सुख क्या है, और सुखी होनेवाला पदार्थ क्या है; यह समझे बिना वह क्या करेगा ?

इसलिये जिनके सुखी होने की चाह हो, उन सबको सुख का यथार्थ स्वरूप जानना ही होगा।

यदि आपकी जिज्ञासा हो तो निम्नलिखित ग्रंथों की स्वाध्याय कीजिये। इससे आप सुखस्वरूप की यथार्थ समझ पा सकेंगे।

| | |
|---|---|
| मुक्ति का मार्ग | ०-१०-० |
| मूल में भूल | ०-१२-० |
| आत्मधर्म फाइल पहला वर्ष | ३-१२-० |
| आत्मधर्म फाइल दूसरा वर्ष | ३-१२-० |
| आत्मधर्म मासिक पत्र | ३-०-० |

(डाकखर्च माफ)

प्राप्तिस्थान :— आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आकंड़िया-काठियावाड़

# अहिंसा और उसका फल

**प्रश्न**—जिस जीव के अपने भाव में सच्ची अहिंसा प्रगट हुई हो, क्या उसे दूसरा कोई जीव मारने के लिये आ सकता है ? और क्या अहिंसा का ऐसा प्रभाव हो सकता है कि उसकी अहिंसा के प्रभाव से हिंसक जीव भी अहिंसक बन जाय ?

**उत्तर**—नहीं, एक द्रव्य का प्रभाव दूसरे द्रव्य पर कभी पड़ ही नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। एक जीव की अहिंसा का प्रभाव दूसरे जीव पर पड़ ही नहीं सकता। और ऐसा भी नहीं है कि एक जीव के अहिंसा प्रगट हुई, इसलिये दूसरे जीव को उसके दु:ख देने का भाव ही न हो। प्रत्युत ऐसा भी होता है कि जिन के अंतरंग में भाव अहिंसा प्रगट हुई है—ऐसे धर्मात्मा संत-मुनि स्वरूप के ध्यान में लीन हों और सिंह क्रूर-भाव से उनके शरीर को खा जाते हैं। वहाँ मुनिराज के अहिंसक भाव में कोई दोष नहीं है। बाह्य में शरीर के खाने की क्रिया हिंसा नहीं है, किन्तु अंतरंग में जो क्रूर-भाव है, सो हिंसा है। अपनी अहिंसा का फल अपनी आत्मा में निराकुल शांतिरूप होता है और अपने हिंसक भाव का फल अपने आत्मा में आकुलता-अशांतिरूप होता है। नरकादि का जो संयोग होता है, सो परवस्तु है, उसका वेदन आत्मा को नहीं है किन्तु वह जैसे भाव स्वयं करता है वैसे भाव को स्वयं उसी समय भोगता है। जो यह कहा जाता है कि हिंसा का फल नरक है, सो बाह्य संयोगों का ज्ञान कराने के लिये कहा जाता है।

हिंसा-अहिंसा की यह व्याख्या यथार्थ नहीं है कि परजीव को मारना, सो हिंसा और परजीव को न मारना, सो अहिंसा है। पुण्य-पाप मेरे हैं, ऐसी मान्यता ही हिंसा है और पुण्य-पाप भाव मेरा स्वरूप नहीं है; मैं तो मात्र उसका ज्ञाता ही हूँ, ऐसी मान्यता अहिंसा है। पुण्य-पाप के भाव से रहित स्वरूप को समझकर निज स्वभाव में स्थिर हो जाय और पुण्य-पाप से रहित अहिंसा प्रगट हो, इसलिये दूसरे प्राणी को उसके प्रभाव से कुछ लाभ होगा, यह बात भी यथार्थ नहीं है। और ऐसा भी नहीं होता कि एक जीव निजस्वरूप को समझकर अहिंसाभाव प्रगट करे, इसलिये उसके कारण दूसरा जीव भी अपनी मान्यता बदल डाले, क्योंकि प्रत्येक जीव स्वतंत्र हैं। यदि जीव स्वयं अपना भाव न बदले तो तीन लोक में कोई दूसरा उसके भाव को बदलने में समर्थ नहीं है।

यह बात भी मिथ्या ही है कि तीर्थंकरदेव की दृष्टि पड़े तो इस आत्मा को धर्मलाभ हो जाय। साक्षात् तीर्थंकरदेव भी इस आत्मा के लिये सहायक नहीं हैं। क्योंकि यदि जीव स्वयं अपने ज्ञान के

द्वारा स्वभाव को पहचाने और तीर्थंकरदेव जैसे निमित्त का भी लक्ष छोड़कर स्वभाव का लक्ष करे, तब उसके सम्यग्दर्शन धर्म प्रगट होता है। परंतु यदि स्वयं सम्यग्ज्ञान प्राप्त न करे तो लाखों वर्ष तीर्थंकरदेव के पास रहने पर भी किंचित् मात्र धर्मलाभ नहीं पा सकता। संपूर्ण वीतराग तीर्थंकरदेव के विद्यमान होने पर भी यदि यह जीव स्वयं विपरीत मान्यतारूप अनंत हिंसा दूर न करे तो तीर्थंकरदेव क्या कर सकते हैं ?

×××××

देव, गुरु, शास्त्र का जो लक्ष है, सो विकल्प है—उदयभाव है। उससे सम्यग्दर्शन नहीं होता, किंतु मैं विकल्परहित अखंड ज्ञानस्वरूप हूँ, इस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा स्वभाव की प्रतीति करना, सो सम्यग्दर्शन है और प्रज्ञा के द्वारा आत्मा के स्वभाव को और बंधभाव को (–उदयभाव को) भिन्न-भिन्न जानना सो सम्यग्ज्ञान है, तथा बंधभाव का लक्ष छोड़कर स्वभाव में स्थिर होना, सो सम्यक्चारित्र है। यह सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही अहिंसाभाव है और उसका फल आत्मा में ही अंतर्हित है, बाह्य में उसका फल नहीं होता।

जगत् की प्रत्येक वस्तु संपूर्ण स्वाधीन है। स्व और पर पदार्थ स्वतंत्र है, कोई एक दूसरे पर प्रभाव नहीं डालता; ऐसी स्वाधीन तत्त्वदृष्टि अज्ञानी की समझ में नहीं आती। वह पराधीनदृष्टि से ही अनंत संसार में परिभ्रमण कर रहा है। भगवान श्री कुंदकुंदाचार्य स्वाधीनस्वभाव दृष्टि को समझाते हुये कहते हैं कि तू ज्ञानस्वरूप आत्मा है, तेरा स्वरूप पर से और पुण्य-पाप से भिन्न है; इसप्रकार प्रज्ञा के द्वारा स्व-पर की पहिचान करके तू अपने स्वभाव को देख और पराधीनता की मान्यता छोड़। तेरे स्वाधीन स्वभाव में कोई सहायक नहीं है। यह तो तेरे घर की पूंजी है, इसे खोलकर देख। तेरे ही स्वभाव में प्रज्ञा है। उसके द्वारा तू अपने स्वभाव को पर से भिन्नरूप अनुभव कर। तेरे स्वभाव का अनुभव करने में तुझे कोई अन्तराय कर्म नहीं रोकता परन्तु 'मैं रागी-द्वेषी हूँ, राग-द्वेष मेरा कर्तव्य है' ऐसी विपरीत मान्यता ही स्वरूप की प्राप्ति में बाधक है अर्थात् यह मान्यता ही अंतराय है और यही हिंसा है।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.१०-०३-४८
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड